

भारत के सर्वोच्च न्यायालय में
सिविल अपीलीय क्षेत्राधिकार

सिविल अपील संख्या- **8546-8549 (2024)**

[विशेष अनुमति याचिका (सिविल) संख्या **12773-76** वर्ष **2021**]

राजस्थान राज्य एवं अन्य

A1: राजस्थान राज्य

A2: उप सचिव, कार्मिक विभाग

A3: रजिस्ट्रार, सहकारी समितियां, जयपुर

बनाम

भूपेंद्र सिंह

.....प्रतिवादी

हेडनोट्स

सेवा विधि - निलंबन / सेवा से निष्कासन - अनुशासनात्मक प्राधिकारी द्वारा जांच अधिकारी की रिपोर्ट को स्वीकार करते हुए दंडारोपण - कारणों की आवश्यकता- तथ्यों के अनुसार, कर्मचारी को विभागीय जांच की संभावना के मद्देनजर निलंबित किया गया था, क्योंकि उस पर विभिन्न अनियमितताओं का आरोप था- विभागीय पदोन्नति समिति ने उसे पदोन्नति के लिए अनुपयुक्त पाया क्योंकि वह निलंबनाधीन था आरोप प्रमाणित हो जाने के पश्चात, उसे सेवा से हटा दिया गया- कर्मचारी ने निलंबन एवं निष्कासन आदेश को चुनौती दी - उच्च न्यायालय के एकल न्यायाधीश ने निष्कासन आदेश को निरस्त कर दिया तथा निर्देश दिया कि कर्मचारी के पदोन्नति के मामले पर पुनः विचार किया जाए- **अभिनिर्धारित:** खंडपीठ ने उक्त आदेश को यथावत रखा।

निर्णय

न्यायमूर्ति अहसानुद्दीन अमानुल्लाह:

पक्षकारों के विद्वान अधिवक्ताओं की दलीलें सुनी गईं।

2. अनुमति प्रदान की जाती है।
3. वर्तमान अपीलें, दिनांक 28.01.2021 को पारित संयुक्त अंतिम निर्णय एवं आदेश (जिसे आगे "आक्षेपित निर्णय" कहा गया है) के विरुद्ध दायर की गई हैं, जिसे राजस्थान उच्च न्यायालय, जयपुर पीठ की खंडपीठ (जिसे आगे "उच्च न्यायालय" कहा गया है) द्वारा पारित किया गया था, जिसके द्वारा D. B. विशेष अपील रिट संख्या 1695/2008, 14/2009, 15/2009 एवं 65/2009 को निरस्त कर दिया गया था।

संक्षिप्त तथ्यात्मक विवरण:

4. एकमात्र प्रतिवादी को वर्ष 1960 में निरीक्षक (कार्यपालक) के पद पर नियुक्त किया गया था तथा तत्पश्चात 05.04.1973 को राजस्थान लोक सेवा आयोग (जिसे आगे "आर.पी.एस.सी." कहा जाएगा) की अनुशंसा पर चयनित होकर सहायक रजिस्ट्रार के पद पर नियुक्त किया गया। दिनांक 29.04.1976 को प्रतिवादी ने सादुलशहर जमींदारा सहकारी विपणन समिति लिमिटेड के गोदाम निर्माण की अनुमति प्रदान कर दी, यद्यपि रजिस्ट्रार द्वारा यह निर्देश दिया गया था कि लोक निर्माण विभाग से तकनीकी राय प्राप्त करने के पश्चात ही अनुमति दी जाए। इसके अतिरिक्त, प्रतिवादी ने दिनांक 04.01.1977 को दो व्यक्तियों की नियुक्ति कर दी, जबकि यह आदेश था कि रजिस्ट्रार से पूर्व अनुमति प्राप्त की जाए। फिर दिनांक 06.05.1977 को प्रतिवादी को पुनः निरीक्षक के पद पर पदावनत कर दिया गया और निर्देशित किया गया कि वह अपना कार्यभार श्री अमर चंद ढाका को हस्तांतरित करें, किन्तु प्रतिवादी ने न केवल इस आदेश का पालन नहीं किया, अपितु कथित रूप से दूसरे व्यक्ति के कर्तव्यों में बाधा भी उत्पन्न की।
5. दिनांक 18.05.1977 को प्रतिवादी ने स्वयं को भारत बस ट्रांसपोर्ट को-ऑपरेटिव सोसाइटी लिमिटेड का प्रशासक नामित करते हुए एक आदेश पारित किया, यद्यपि वह उक्त पद से पहले ही पदावनत किया जा चुका था और उसका कार्यभार किसी अन्य अधिकारी द्वारा ग्रहण कर लिया गया था। उक्त अवधि के दौरान, प्रतिवादी ने बिना नीलामी की विधिपूर्ण प्रक्रिया अपनाए 9 दुकानों का विक्रय कर दिया, जो कि बाजार मूल्य की तुलना में काफी कम थीं। इसके अतिरिक्त, उस पर यह भी आरोप है कि उसने दिनांक 30.05.1977 को अनियमित भुगतान किए। दिनांक 21.06.1977 को प्रतिवादी ने भारत बस ट्रांसपोर्ट को-ऑपरेटिव सोसाइटी लिमिटेड के खाते से रु. 9,025/- (रुपए नौ हजार पच्चीस मात्र) की राशि स्टाम्प की खरीद हेतु व्यय के रूप में निकाली, जबकि उक्त राशि दुकान क्रेताओं से पहले ही वसूल की जा चुकी थी, जिसे उसने अनधिकृत रूप से अपने पास रखा। दिनांक 01.08.1977 को जिला कलेक्टर द्वारा

प्रतिवादी को निर्देशित किया गया कि वह हनुमानगढ़ सोसाइटी के प्रशासक का कार्यभार सौंपे, किन्तु उसने 19.08.1977 तक न तो कार्यभार सौंपा और न ही शेष नकद आदि।

6. दिनांक 04.10.1979 को प्रतिवादी को विभागीय जांच के विचाराधीन निलंबित कर दिया गया, क्योंकि उस पर विभिन्न अनियमितताओं के आरोप थे। 05.10.1979 को प्रकाशित वरिष्ठता सूची के अनुसार, दिनांक 01.07.1978 की स्थिति में प्रतिवादी का नाम क्रमांक 39 पर था। दिनांक 07.02.1980 को प्रतिवादी द्वारा प्रमोशन की मांग करते हुए अपील संख्या 361/79 दायर की गई, जिसे इस आधार पर अस्वीकार कर दिया गया कि वर्ष 1975-1976, 1976-1977 एवं 1977-1978 के लिए उसकी वार्षिक गोपनीय प्रविष्टियाँ (जिसे आगे "ACRs" कहा जाएगा) में प्रतिकूल टिप्पणियाँ दर्ज थीं। हालाँकि, यह अवलोकन किया गया कि यदि उक्त प्रतिकूल प्रविष्टियाँ विलोपित कर दी जाती हैं, तो प्रतिवादी के मामले पर पुनर्विचार किया जा सकता है।
7. दिनांक 03.10.1980 को प्रतिवादी के विरुद्ध राजस्थान सिविल सेवा (वर्गीकरण, नियंत्रण एवं अपील) नियम, 1958 (जिसे आगे "1958 के नियम" कहा जाएगा) के नियम 16 के अंतर्गत आरोपपत्र जारी किया गया, जिसमें 16 आरोप (उप-आरोपों सहित) लगाए गए।

उक्त विभागीय जांच के संबंध में प्रतिवादी का प्रारंभिक बयान दिनांक 23.05.1983 को दर्ज किया गया। गवाहों का परीक्षण विभिन्न तिथियों पर किया गया। इस बीच, दिनांक 28.11.1983 को अपील संख्या 237/82 में प्रतिवादी की ACR में की गई प्रतिकूल टिप्पणियाँ विलोपित कर दी गईं। दिनांक 05.03.1984 एवं 04.06.1984 को प्रतिवादी का विस्तृत बयान भी दर्ज किया गया। अंततः, जांच प्रतिवेदन दिनांक 19.04.1984 को प्रस्तुत किया गया। इसके पश्चात्, विभागीय पदोन्नति समिति (जिसे आगे "DPC" कहा जाएगा) की बैठक दिनांक 21.11.1984 को आयोजित हुई, जिसमें प्रतिवादी को उस दिन निलंबन में होने के कारण पदोन्नति हेतु अयोग्य पाया गया। प्रतिवादी ने राजस्थान उच्च न्यायालय में एकलपीठ सिविल रिट याचिका संख्या 590/1983 दायर की, जिसमें विद्वान एकल न्यायाधीश द्वारा दिनांक 04.10.1979 के निलंबन आदेश पर भावी प्रभाव से स्थगनादेश पारित किया गया। प्रतिवादी ने अपील संख्या 358/85 भी दायर की, जिसमें उप-पंजीयक के पद पर दिनांक 23.02.1979 से तथा संयुक्त पंजीयक के पद पर दिनांक 06.04.1985 से पदोन्नति पर विचार किए जाने की मांग की गई।

8. जांच पूर्ण होने के पश्चात् एवं आरोप सिद्ध पाए जाने पर, प्रतिवादी को दिनांक 25.09.1985 को एक आदेश द्वारा सेवा से पदच्युत कर दिया गया। प्रतिवादी द्वारा दायर अपील संख्या 358/85 आंशिक रूप से स्वीकार की गई, और दिनांक 21.08.1991 के आदेश द्वारा अपीलकर्ता को निर्देशित किया गया कि वह वर्ष

1984-1985 की रिक्तियों हेतु विभागीय पदोन्नति समिति (DPC) की बैठक आयोजित कर प्रतिवादी के उप-पंजीयक पद पर पदोन्नति के मामले पर पुनर्विचार करे। प्रतिवादी ने उच्च न्यायालय में एकलपीठ सिविल रिट याचिका संख्या 793/1986 के माध्यम से निष्कासन आदेश को चुनौती दी, जिसमें दिनांक 18.12.1991 को पारित आदेश द्वारा निष्कासन आदेश को निरस्त कर दिया गया तथा अपीलकर्ताओं को यह स्वतंत्रता प्रदान की गई कि वे प्रतिवादी को जांच प्रतिवेदन एवं राजस्थान लोक सेवा आयोग (RPSC) की राय की प्रति प्रदान कर उसके पश्चात् जांच पूर्ण करें। उक्त आदेश की पालना दिनांक 07.04.1992 को की गई। प्रतिवादी ने दिनांक 25.05.1992 तथा 10.06.1992 को लिखित आपत्तियाँ प्रस्तुत कर आरोपों का पूर्णतः खंडन किया। 11.09.1992 को DPC ने प्रतिवादी को वर्ष 1980-81 हेतु उपयुक्त पाया, किन्तु वर्ष 1979-80 हेतु अयोग्य पाया, जिसके लिए अनुशासनात्मक जांच लंबित होने के कारण अनुशंसा को सीलबंद लिफाफे में रखा गया। प्रतिवादी द्वारा DPC के निर्णय को चुनौती देते हुए दायर अवमानना याचिका संख्या 358/1985 में, दिनांक 08.04.1993 को उच्च न्यायालय ने DPC के निर्णय को स्थायित्व प्रदान किया। दिनांक 28.09.1993 को प्रतिवादी को सुनवाई का अवसर प्रदान करने के उपरांत, पुनः सेवा से पृथक करने का आदेश पारित किया गया। इससे क्षुब्ध होकर प्रतिवादी ने अवमानना याचिका दायर की जो खारिज कर दी गई, एवं डी. बी. विशेष अपील संख्या 36/94 को भी दिनांक 04.04.1994 को अस्वीकृत कर दिया गया।

9. तत्पश्चात् प्रतिवादी ने उच्च न्यायालय में चार रिट याचिकाएँ — SBCWP संख्या 6486/1993; 5651/1994; 5752/1994 और 846/1995 दायर कीं, जिन्हें दिनांक 22.02.2008 के संयुक्त निर्णय द्वारा निस्तारित किया गया। इनमें से SBCWP संख्या 6486/1993 और 5651/1994 को स्वीकार किया गया, जबकि 5752/1994 और 846/1995 को आंशिक रूप से स्वीकार किया गया, तथा प्रतिवादी के पदोन्नति के प्रकरण पर पुनर्विचार करने हेतु निर्देश जारी किए गए। इससे विक्षुब्ध होकर अपीलकर्ताओं द्वारा D.B. विशेष अपील रिट संख्या 1695/2008, 14/2009, 15/2009 तथा 65/2009 दायर की गईं। प्रतिवादी ने भी D.B. विशेष अपील रिट संख्या 24/2009 दायर की। प्रतिवादी द्वारा दायर की गई अपील उसकी मुआवजा संबंधी मांग से संबंधित थी। दिनांक 28.01.2021 को पारित सामूहिक अंतिम निर्णय एवं आदेश द्वारा सभी अपीलों को खारिज कर दिया गया, जिससे वर्तमान चार अपीलें अपीलकर्ताओं द्वारा दायर की गई हैं।

अपीलकर्ताओं की ओर से प्रस्तुतियाँ:

10. अपीलकर्ताओं की ओर से विद्वान अधिवक्ता ने प्रस्तुत किया कि प्रतिवादी का सेवा-इतिहास विवादास्पद रहा है तथा उसने स्वयं को सेवा में बनाए रखने योग्य सिद्ध नहीं किया। यह तर्क दिया गया कि प्रशिक्षण काल के दौरान ही, प्रतिवादी को अयोग्य पाया गया था और दिनांक 06.05.1977 के आदेश द्वारा पदावनत कर श्री अमर चंद ढाका को कार्यभार सौंपने का निर्देश दिया गया था, किंतु प्रतिवादी ने इसका पालन नहीं किया और कार्यभार ग्रहण करने में बाधा उत्पन्न की। यह भी प्रस्तुत किया गया कि सादुलशहर जमींदारा सहकारी विपणन समिति लिमिटेड के गोदाम निर्माण की अनुमति हेतु PWD से तकनीकी परामर्श प्राप्त करने का रजिस्ट्रार द्वारा निर्देश होने के बावजूद, प्रतिवादी ने स्वविवेक से अनुमति प्रदान की, तथा दिनांक 04.01.1977 को बिना रजिस्ट्रार की अनुमति के धर्म चंद एवं बीरबल को नियुक्त किया। 18.05.1977 को प्रतिवादी ने आदेश संख्या 995-98 पारित कर स्वयं को भारत बस ट्रांसपोर्ट को-ऑपरेटिव सोसाइटी लिमिटेड का प्रशासक नियुक्त किया, जबकि उसे उस पद से पहले ही पदावनत कर दिया गया था और श्री अमर चंद ढाका ने कार्यभार ग्रहण कर लिया था। प्रतिवादी ने उक्त अवधि में 9 दुकानों को बाजार मूल्य से काफी कम कीमत पर बिना उचित प्रक्रिया अपनाए बेच दिया। 30.05.1977 को प्रतिवादी ने अनियमित भुगतान किए, तथा 21.06.1977 को रु. 9025/- की राशि को, जिसे स्टाम्प खर्च के नाम पर सोसाइटी के खाते से निकाला गया था, जबकि यह राशि दुकानदारों से प्राप्त की गई थी, गबन कर अपने पास रख लिया।
11. विद्वान अधिवक्ता ने आगे तर्क दिया कि 05.07.1977 को प्रतिवादी ने कलेक्टर की पूर्व स्वीकृति के बिना रु. 4600/- का किराया बिल तैयार किया, और 06.05.1977 को जिस पद से वह पदावनत किया गया था, उस पर बिना विधिक अधिकार के पुनः आसीन हो गया। यह राशि भूमि-मालिक को भी भुगतान नहीं की गई। 21.07.1977 को प्रतिवादी ने रु. 4000/- का गबन किया, जिसकी जमा वापसी की झूठी प्रविष्टि उसने कैश बुक में श्रीमती गंगा बाई के नाम से दर्ज की, जबकि राशि अपने पास रख ली। इसी प्रकार, 25.07.1977 को रु. 7766.83/- प्राप्त कर उसे अपने पास रख लिया, जिसे निरीक्षण के समय विवश होकर लौटाया गया। 30.07.1977 को प्रतिवादी ने भुगतान प्रविष्टियों में अनियमित एवं संदेहास्पद प्रविष्टियाँ कीं, जबकि वह उस समय निरीक्षक के पद पर पदावनत किया गया था। एक अन्य गंभीर अनुशासनहीनता यह थी कि 01.08.1977 को श्रीगंगानगर, कलेक्टर द्वारा प्रतिवादी को हनुमानगढ़ सोसाइटी के प्रशासक का कार्यभार सौंपने का निर्देश दिए जाने के बावजूद, प्रतिवादी ने 19.08.1977 तक नकद शेष एवं अन्य कार्यभार नहीं सौंपा।

12. आगे यह तर्क दिया गया कि प्रतिवादी ने भारत बस ट्रांसपोर्ट को-ऑपरेटिव सोसायटी लिमिटेड की राशि ₹4,764.36/- अस्थायी रूप से गबन की थी और यह राशि प्रतिवादी द्वारा तब वापस की गई जब उसका तबादला भीलवाड़ा कर दिया गया। यह भी कहा गया कि उक्त राशि, जो 18.08.1977 को देय थी, प्रतिवादी ने क्रमशः ₹3,000/- की डिमांड ड्राफ्ट दिनांक 07.02.1979, ₹764.36/- की डीडी दिनांक 09.02.1979 तथा ₹1,000/- की डीडी दिनांक 20.02.1979 के रूप में भेजी, यानी लगभग डेढ़ साल बाद। यह प्रस्तुत किया गया कि 04.10.1978 को प्रतिवादी ने रावला बिक्री-खरीद सहकारी समिति लिमिटेड में प्रशासक के रूप में कार्य करते हुए गोदाम के लिए सामग्री खरीदने हेतु ₹2,000/- का अग्रिम लिया, जिसे जमा नहीं किया गया, और इसी बीच उसका तबादला भीलवाड़ा कर दिया गया। कई अनुस्मारक और पत्राचार के बावजूद, प्रतिवादी ने उक्त राशि दिनांक 20.03.1979 को डिमांड ड्राफ्ट संख्या 738095 के माध्यम से भेजी। एक और अनियमितता यह बताई गई कि प्रतिवादी ने अनुसूचित जाति/जनजाति के लिए आरक्षित 28% पदों पर नियुक्ति के लिए कोई कदम नहीं उठाया, बल्कि 07.10.1978 को एक आरक्षित पद पर राजकुमार नामक व्यक्ति को कनिष्ठ लिपिक के रूप में नियुक्त कर दिया, जो आदेश का उल्लंघन था।
13. विद्वान् अधिवक्ता ने प्रस्तुत किया कि उपरोक्त आचरण की पृष्ठभूमि में, प्रतिवादी को 04.10.1979 के आदेश द्वारा विभागीय जांच की प्रतीक्षा में निलंबित कर दिया गया।
14. विद्वान अधिवक्ता ने बताया कि दिनांक 03.10.1980 को प्रतिवादी के विरुद्ध 1958 नियमों के नियम 16 के अंतर्गत आरोपपत्र जारी किया गया, जिसमें उप-आरोपों सहित कुल 16 आरोप लगाए गए। जांच के दौरान 10 गवाहों की गवाही हुई जिन्होंने प्रतिवादी के खिलाफ बयान दिए। इसके बाद 05.03.1984 और 04.06.1984 को प्रतिवादी के विस्तृत बयान दर्ज किए गए। जांच रिपोर्ट अंततः 19.04.1984 को प्रस्तुत की गई। यह तर्क दिया गया कि 21.11.1984 को आयोजित डीपीसी की बैठक में प्रतिवादी को उपयुक्त नहीं माना गया, क्योंकि वह उस समय निलंबन में थे। यह प्रस्तुत किया गया कि यद्यपि 22.02.1985 को उच्च न्यायालय के विद्वान एकल पीठ ने एसबीसीडब्ल्यूपी संख्या 590/1983 में 04.10.1979 के निलंबन आदेश की प्रभावशीलता को स्थगित कर दिया था, लेकिन यह आदेश भविष्य प्रभाव से था। अपील संख्या 358/85, जो प्रतिवादी ने उप पंजीयक के पद पर 23.02.1979 से और संयुक्त पंजीयक के पद पर 06.04.1985 से पदोन्नति के लिए दायर की थी, आंशिक रूप से स्वीकार की गई और वर्ष 1984-85 की रिक्तियों के लिए डीपीसी बुलाने का निर्देश दिया गया। इस बीच, प्रतिवादी के विरुद्ध विभागीय कार्यवाही में आरोप सिद्ध हो गए और 25.09.1985 को सेवा से निष्कासन का आदेश पारित किया गया।

15. यह प्रस्तुत किया गया कि यद्यपि उच्च न्यायालय ने 18.12.1991 को एकल पीठ सिविल रिट याचिका संख्या 793/1986 में प्रतिवादी के निष्कासन आदेश को रद्द कर दिया, लेकिन अपीलकर्ताओं को यह स्वतंत्रता दी गई कि वे प्रतिवादी को जांच रिपोर्ट और राजस्थान लोक सेवा आयोग की राय की प्रति प्रदान कर जांच करें। इस आदेश के अनुपालन में, प्रतिवादी ने आरोपों से इनकार करते हुए लिखित प्रतिवेदन प्रस्तुत किया और उसे सुनवाई का अवसर भी दिया गया। विद्वान् अधिवक्ता ने बताया कि 11.09.1992 को डीपीसी ने उसे 1980-81 के लिए उपयुक्त पाया, लेकिन 1979-80 के लिए नहीं, क्योंकि उस समय विभागीय जांच लंबित थी और अनुशंसा को सीलबंद लिफाफे में रखा गया। यह भी कहा गया कि प्रतिवादी द्वारा दायर अवमानना याचिका संख्या 358/1985 में दिनांक 08.04.1993 को डीपीसी का निर्णय उचित पाया गया।
16. विद्वान् अधिवक्ता ने प्रस्तुत किया कि सभी वैधानिक प्रक्रियाओं का पालन करते हुए और प्रतिवादी को पूरी सुनवाई का अवसर देने के बाद, 28.09.1993 को निष्कासन का आदेश पारित किया गया, जिसमें यह कहा गया कि गंभीर आरोपों और पांच आरोपों के आंशिक/पूर्ण रूप से सिद्ध होने के आधार पर दंड देने के पर्याप्त कारण मौजूद हैं। प्रतिवादी द्वारा दायर अवमानना याचिका खारिज कर दी गई और डिवीजन बेंच के समक्ष विशेष अपील संख्या 36/94 भी खारिज कर दी गई।
17. यह प्रस्तुत किया गया कि इस पृष्ठभूमि में, जब प्रतिवादी ने 28.09.1993 के निष्कासन आदेश को चुनौती देते हुए चार रिट याचिकाएं दायर कीं, तो उच्च न्यायालय ने प्राकृतिक न्याय के सिद्धांतों के उल्लंघन के आधार पर निष्कासन आदेश रद्द कर दिया, यह अवलोकन करते हुए कि यद्यपि प्रतिवादी द्वारा प्रस्तुत प्रतिवेदन का उल्लेख आदेश में है, लेकिन उसका कोई विचार-विमर्श नहीं किया गया। फलस्वरूप निलंबन आदेश भी रद्द कर दिया गया और प्रतिवादी को उसके निलंबन की तिथि से लेकर पुनः निष्कासन की तिथि तक का पूर्ण वेतन देने का अधिकार बताया गया और यह भी कहा गया कि यह संपूर्ण अवधि पेंशन के लिए भी गिनी जाएगी। इसके अतिरिक्त, प्रतिवादी को 1980-81 में पदोन्नति के लिए उपयुक्त पाया गया था, लेकिन विभागीय जांच लंबित होने के कारण परिणाम को सीलबंद रखा गया। अब जबकि निलंबन और निष्कासन आदेश रद्द हो गए हैं, प्रतिवादी को 1979-80 और 1980-81 में उप पंजीयक के पद पर पदोन्नति हेतु विचार और सभी परिणामी लाभों के लिए पात्र माना गया।
18. अपीलकर्ताओं के विद्वान् अधिवक्ता ने प्रस्तुत किया कि न्याय की विफलता हुई है, क्योंकि पाँच आरोप दस्तावेजों द्वारा सिद्ध होने के बावजूद, उच्च न्यायालय ने अत्यधिक तकनीकी आधार पर हस्तक्षेप किया। यह भी तर्क दिया गया कि अधिकारियों द्वारा लिया गया दृष्टिकोण निराधार नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वह भी एक यथोचित दृष्टिकोण था। यह निवेदन किया गया कि इस प्रकार के मामलों में स्थापित विधि यह

है कि जहाँ दो दृष्टिकोण संभव हों, वहाँ यदि प्राधिकरणों द्वारा एक दृष्टिकोण अपनाया गया हो, तो केवल इस आधार पर कि एक भिन्न दृष्टिकोण भी संभव है, हस्तक्षेप नहीं किया जाना चाहिए। विद्वान् अधिवक्ता ने कहा कि प्रतिवादी की वित्तीय अनियमितताओं और आदेशों की अवहेलना से संबंधित आचरण स्वयं उसके द्वारा स्वीकार किया गया था जैसे स्थानांतरण आदेशों की अवहेलना, सहकारी समिति को निर्माण की अनुमति देना, अधिकार क्षेत्र से बाहर जाकर नियुक्तियां करना और स्वयं को प्रशासक नियुक्त करना। यह प्रस्तुत किया गया कि डिवीजन बेंच ने अपीलकर्ताओं द्वारा उठाए गए कानूनी और तथ्यात्मक मुद्दों पर उचित विचार नहीं किया। यह भी कहा गया कि डिवीजन बेंच ने गलत तरीके से यह माना कि जांच प्रक्रिया प्रमाणों के बिना और मनमानी थी, जबकि आरोप सिद्ध करने वाले दस्तावेज मौजूद थे, जिन्हें प्रतिवादी ने न तो झूठा कहा और न ही जाली बताया। अतः प्रार्थना की गई कि ये अपीलें स्वीकार की जाएं।

प्रतिवादी पक्ष की प्रस्तुतियाँ:

19. इसके विपरीत, प्रतिवादी पक्ष की ओर से विद्वान् अधिवक्ता ने प्रस्तुत किया कि विद्वान् एकल न्यायाधीश और डिवीजन बेंच दोनों ने समान रूप से यह माना कि जांच प्रक्रिया दूषित थी और यह "कोई प्रमाण नहीं" का मामला था। अतः इस न्यायालय को भी मामले में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। यह प्रस्तुत किया गया कि दोनों न्यायालयों ने यह पाया कि अस्थायी गबन से संबंधित आरोप अवैध थे क्योंकि वे सिद्ध नहीं हुए थे, फिर भी प्रतिवादी को दोषी माना गया। साथ ही, यह इंगित किया गया कि यद्यपि आरोप 1-GA दुकानों की बिक्री से ₹9,025/- के गबन से संबंधित था, अपीलीय प्राधिकरण ने प्रतिवादी को दोषमुक्त किया और जांच अधिकारी ने भी उसे गबन का दोषी नहीं माना, बल्कि उन दुकानों की बिक्री को अनियमित माना, जो कि आरोप ही नहीं था।
20. इसी प्रकार यह इंगित किया गया कि विद्वान् एकल न्यायाधीश ने जब कम मूल्य पर दुकान बेचने की क्षमता के संबंध में विचार किया, तो उन्होंने पाया कि जांच अधिकारी ने स्पष्ट रूप से यह कहा कि कोई क्षति सिद्ध नहीं हुई, फिर भी आरोप सिद्ध माना गया, जो अनुचित है और इस संबंध में कोई विवाद नहीं हो सकता। उन्होंने प्रस्तुत किया कि विद्वान् एकल न्यायाधीश का आदेश, जिसे डिवीजन बेंच ने भी बरकरार रखा, में कोई हस्तक्षेप आवश्यक नहीं है। अतः उन्होंने अपीलों को खारिज करने की प्रार्थना की।

विश्लेषण, तर्क और निष्कर्ष:

21. मामले पर विचार करने के पश्चात न्यायालय ने पाया कि आक्षेपित निर्णयको बरकरार नहीं रखा जा सकता। प्रस्तावना के रूप में, हम डिवीजन बेंच द्वारा पृष्ठ 7 पर कही गई बात को उद्धृत करते हैं:

“यह कानून का एक स्थापित सिद्धांत है कि न्यायालय आंतरिक जांच में प्रस्तुत साक्ष्यों की पुनः समीक्षा नहीं करता और न ही इस आधार पर हस्तक्षेप करता है कि प्रस्तुत सामग्री पर कोई अन्य दृष्टिकोण संभव था। यदि जांच निष्पक्ष और विधिसम्मत हुई है तथा निष्कर्ष साक्ष्यों पर आधारित हैं, तो साक्ष्य की पर्याप्तता या विश्वसनीयता के आधार पर हस्तक्षेप का कोई कारण नहीं बनता। तथापि, जब विभागीय जांच में दर्ज तथ्य साक्ष्य के बिना या स्पष्ट रूप से मनमाने हों, तब न्यायालय का हस्तक्षेप उचित हो सकता है।”

22. माननीय एकल न्यायाधीश ने पाया कि जांच में दिए गए निष्कर्ष साक्ष्य के विरुद्ध और रिकॉर्ड के प्रतिकूल थे, और चूंकि निष्कासन आदेश भी बिना कारण बताए गया था, इसलिए उसे रद्द कर दिया गया। यह प्रक्रिया डिवीजन बेंच द्वारा भी मान्य की गई। आश्चर्यजनक रूप से, इस विधि स्थिति को स्वीकार करने के बावजूद, कि अपीलीय न्यायालय द्वारा विभागीय जांच में प्रस्तुत साक्ष्यों का पुनर्मूल्यांकन करना या अभिलेख में उपलब्ध सामग्री के आधार पर केवल इस आधार पर हस्तक्षेप करना कि उस पर कोई अन्य दृष्टिकोण भी संभव था, उचित नहीं है — खंडपीठ ने यह अभिलिखित किया कि माननीय एकल न्यायाधीश द्वारा यह यथोचित रूप से निष्कर्ष निकाला गया कि जांच की कार्यवाही त्रुटिपूर्ण थी, क्योंकि वह किसी साक्ष्य पर आधारित नहीं थी और वह विकृत थी; किन्तु खंडपीठ ने यह स्पष्ट नहीं किया कि माननीय एकल न्यायाधीश किस प्रकार इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि जांच साक्ष्यविहीन थी तथा उसमें दिये गए निष्कर्ष विकृत थे। दोनों पक्षों से तथ्यों और अभिलेखों के आधार पर विस्तृत सहायता प्राप्त करने के पश्चात, हम इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि माननीय एकल न्यायाधीश और डिवीजन बेंच द्वारा दिए गए निर्णय अवहनीय हैं।
23. भारत के संविधान के अनुच्छेद 226 के अंतर्गत परीक्षण और हस्तक्षेप की सीमा, वर्तमान प्रकृति के मामलों में, अब कोई विवाद का विषय नहीं रही है। आंध्र प्रदेश राज्य बनाम एस. श्री राम राव, AIR 1963 SC 1723 में, तीन न्यायाधीशों की पीठ ने कहा:

‘7.... उच्च न्यायालय संविधान के अनुच्छेद 226 के अंतर्गत की गई कार्यवाही में उस प्राधिकारी का अपील न्यायालय नहीं है जिसने किसी लोक सेवक के विरुद्ध विभागीय जांच की है। इसका कार्य केवल यह निर्धारित करना है कि क्या जांच सक्षम प्राधिकारी द्वारा की गई है, निर्धारित प्रक्रिया के अनुसार की गई है और क्या प्राकृतिक न्याय के सिद्धांतों का उल्लंघन नहीं हुआ है। यदि ऐसा कोई साक्ष्य है जिसे जांच करने वाले प्राधिकारी ने स्वीकार किया है और जो उस निष्कर्ष का युक्तियुक्त समर्थन कर सकता है कि अभियुक्त अधिकारी दोषी है, तो उच्च न्यायालय का कार्य यह नहीं है कि वह साक्ष्य की समीक्षा करके स्वतंत्र निष्कर्ष निकाले। निःसंदेह, उच्च न्यायालय उन मामलों में हस्तक्षेप कर सकता है जहाँ विभागीय प्राधिकारी द्वारा अनुशासनात्मक कार्यवाही ऐसे तरीके से की गई हो जो प्राकृतिक न्याय के सिद्धांतों के विपरीत हो या वैधानिक नियमों के उल्लंघन में हो, जो जांच की प्रक्रिया निर्धारित करते हैं; अथवा जहाँ प्राधिकारी अपने आपको निष्पक्ष निर्णय लेने से इस कारण असमर्थ बना लेते हैं कि उन्होंने साक्ष्यों तथा प्रकरण के गुण-दोष से परे किसी बाह्य विचार को आधार बनाया हो, या ऐसे विचारों से प्रभावित हुए हों जो विषय से अप्रासंगिक हों; अथवा जहाँ निष्कर्ष प्रत्यक्षतः इतना मनमाना और निराधार हो कि कोई भी समझदार व्यक्ति ऐसा निष्कर्ष नहीं निकाल सकता, अथवा इसी प्रकार के अन्य आधारों पर। लेकिन यदि जांच विधिवत की गई हो, तो तथ्यों पर निर्णय देने का कार्य विभागीय प्राधिकारी का है और यदि उनकी निष्कर्ष पर आधारित कोई वैध साक्ष्य हो, तो उस साक्ष्य की पर्याप्तता या विश्वसनीयता उच्च न्यायालय के समक्ष चुनौती नहीं दी जा सकती।’

(विशेष बल दिया गया)

24. उपर्युक्त सिद्धांतों की पुनरावृत्ति भारतीय स्टेट बैंक बनाम राम लाल भास्कर, (2011) 10 SCC 249 में समान संख्या वाली पीठ द्वारा की गई। आंध्र प्रदेश राज्य बनाम चित्रा वेंकट राव, (1975) 2 SCC 557 में तीन न्यायाधीशों की पीठ ने कहा:

‘21. विभागीय जांचों से संबंधित अनुच्छेद 226 के दायरे पर इस न्यायालय के समक्ष मामला आया है। इस विषय में, इस न्यायालय द्वारा "राज्य बनाम एस. श्री राम राव"[A/R 1963 SC 1723: (1964) 3 SCR 25: (1964) 2 LLJ 150] वाद में दो सिद्धांत स्थापित किए गए। प्रथम, यह मानने का कोई औचित्य नहीं है कि जब यह विचार किया जा रहा हो कि कोई लोक सेवक उस दुराचार का दोषी है या नहीं, जिसके लिए उस पर आरोप लगाया गया है, तो आपराधिक मामलों में लागू होने वाला यह नियम कि अपराध तब तक सिद्ध नहीं माना जाएगा जब तक कि वह संदेह से परे साक्ष्यों द्वारा न्यायालय की संतुष्टि तक सिद्ध न हो जाए — उसे विभागीय कार्यवाही में भी समान रूप से लागू किया जाना चाहिए। यदि विभागीय जांच में यह मानक लागू नहीं किया गया हो, तो भी उच्च न्यायालय अनुच्छेद 226 के अंतर्गत जांच को अमान्य घोषित नहीं कर सकता। उच्च न्यायालय अनुच्छेद 226 के तहत उस प्राधिकारी के निर्णय पर अपील का न्यायालय नहीं है, जिसने किसी लोक सेवक के विरुद्ध विभागीय जांच की हो। न्यायालय का कार्य केवल यह निर्धारित करना है कि क्या जांच उस प्राधिकारी द्वारा की गई है जो उस उद्देश्य के लिए सक्षम है, क्या वह निर्धारित प्रक्रिया के अनुसार की गई है, और क्या प्राकृतिक न्याय के सिद्धांतों का उल्लंघन नहीं किया गया है। द्वितीय, यदि कुछ ऐसा साक्ष्य मौजूद है जिसे जांच करने के लिए नियुक्त प्राधिकारी ने स्वीकार किया हो और वह साक्ष्य इस निष्कर्ष का यथोचित समर्थन करता हो कि दोषारोपित अधिकारी आरोप का दोषी है, तो यह उच्च न्यायालय का कार्य नहीं है कि वह उन साक्ष्यों की पुनः समीक्षा करे और उन पर स्वतंत्र निष्कर्ष पर पहुंचे। उच्च न्यायालय केवल उन्हीं मामलों में हस्तक्षेप कर सकता है जहाँ जांच प्राकृतिक न्याय के सिद्धांतों या वैधानिक नियमों के उल्लंघन में की गई हो या प्राधिकारी ने अवांछनीय विचारों से प्रभावित होकर निर्णय लिया हो। उच्च न्यायालय उस स्थिति में हस्तक्षेप कर सकता है जब विभागीय प्राधिकारियों द्वारा दोषारोपित कर्मचारी के विरुद्ध की गई कार्यवाही प्राकृतिक न्याय के सिद्धांतों के प्रतिकूल हो अथवा जांच की प्रक्रिया को विनियमित करने वाले वैधानिक नियमों का उल्लंघन करते हुए की गई हो, या जब प्राधिकारी किसी बाह्य विचारों के प्रभाव में आकर अथवा मामले के साक्ष्यों और गुण-दोष से असंबंधित बातों से प्रभावित होकर निष्पक्ष निर्णय लेने में स्वयं को अक्षम बना लेते हों,

अथवा जब निष्कर्ष अपनी सतह पर ही इतना मनमाना और स्वेच्छाचारी प्रतीत होता हो कि कोई भी विवेकशील व्यक्ति उस निष्कर्ष पर नहीं पहुँच सकता। यदि विभागीय जांच विधिसम्मत रूप से संपन्न की गई हो, तो विभागीय प्राधिकारी तथ्यात्मक मामलों में अंतिम निर्णयकर्ता होते हैं, और यदि उनके निष्कर्ष किसी विधिसम्मत साक्ष्य पर आधारित हों, तो उस साक्ष्य की प्रयाप्तता या विश्वसनीयता एक ऐसा विषय नहीं है, जिसे अनुच्छेद 226 के अंतर्गत रिट याचिका की कार्यवाही में उच्च न्यायालय के समक्ष चुनौती दी जा सके।

‘23. अनुच्छेद 226 के अंतर्गत सर्टियोरारी की रिट जारी करने का क्षेत्राधिकार एक पर्यवेक्षण क्षेत्राधिकार है, न कि अपील क्षेत्राधिकार। साक्ष्यों के मूल्यांकन के फलस्वरूप अधीनस्थ न्यायालय या अधिकरण द्वारा स्थापित तथ्यात्मक निष्कर्षों को रिट कार्यवाही में पुनः नहीं खोला जाता या प्रश्न नहीं उठाया जाता। कोई विधिक त्रुटि, जो अभिलेख की सतह पर स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती है, उसे रिट द्वारा सुधारा जा सकता है, किंतु कोई तथ्यात्मक त्रुटि — चाहे वह कितनी भी गंभीर क्यों न प्रतीत हो — रिट याचिका के माध्यम से सुधारणीय नहीं है। जहाँ तक किसी अधिकरण द्वारा दर्ज तथ्यात्मक निष्कर्ष का प्रश्न है, वहाँ रिट तब ही जारी की जा सकती है जब यह प्रदर्शित किया जाए कि उक्त निष्कर्ष को दर्ज करते समय अधिकरण ने कोई स्वीकार्य एवं प्रासंगिक साक्ष्य को त्रुटिपूर्वक अस्वीकार कर दिया हो; या कोई अस्वीकार्य साक्ष्य को त्रुटिपूर्वक स्वीकार कर लिया हो, और वह साक्ष्य आक्षेपित निष्कर्ष को प्रभावित करता हो। यदि किसी तथ्यात्मक निष्कर्ष का आधार कोई भी साक्ष्य नहीं है, तो उसे विधिक त्रुटि माना जाएगा, जिसे सर्टियोरारी की रिट द्वारा सुधारा जा सकता है। हालाँकि, किसी अधिकरण द्वारा दर्ज किया गया तथ्यात्मक निष्कर्ष केवल इस आधार पर चुनौती नहीं दिया जा सकता कि प्रस्तुत साक्ष्य अपर्याप्त या असंतोषजनक है। जब तक कोई साक्ष्य मौजूद है, उसकी पर्याप्तता या गुणवत्ता पर पुनर्विचार रिट अधिकार क्षेत्र के अंतर्गत नहीं किया जा सकता। किसी मुद्दे पर प्रस्तुत साक्ष्य की पर्याप्तता या सम्यक्ता (*adequacy or sufficiency*) तथा उस साक्ष्य से निकाले जाने वाले तथ्यात्मक निष्कर्ष (*inference of fact*) का अधिकार विशेष रूप से अधिकरण (*Tribunal*) के अधिकार क्षेत्र में आता है।

देखिए: सैयद याकूब बनाम के.एस. राधाकृष्णन [AIR 1964 SC 477 : (1964) 5 SCR 64]

‘24. वर्तमान मामले में उच्च न्यायालय ने पूरे साक्ष्य का मूल्यांकन कर स्वतंत्र निष्कर्ष निकाला, जो उचित नहीं था। इस तथ्य के अतिरिक्त कि उच्च न्यायालय किसी तथ्यात्मक निष्कर्ष को केवल इस आधार पर सुधार नहीं सकता कि साक्ष्य पर्याप्त या सम्यक नहीं है, वर्तमान प्रकरण में अधिकरण द्वारा विचारित साक्ष्यों की छानबीन उच्च न्यायालय द्वारा इस उद्देश्य से नहीं की जा सकती कि यह निष्कर्ष निकाला जाए कि ऐसा कोई साक्ष्य नहीं है, जो यह सिद्ध कर सके कि प्रतिवादी ने यात्रा नहीं की थी। अधिकरण ने अपने निष्कर्षों के समर्थन में युक्तिसंगत कारण प्रस्तुत किए हैं। यह कहना उचित नहीं होगा कि कोई विवेकशील व्यक्ति ऐसे निष्कर्षों पर नहीं पहुंच सकता था। उच्च न्यायालय ने साक्ष्यों की पुनः समीक्षा की, उनका पुनर्मूल्यांकन किया और फिर उन्हें "कोई साक्ष्य नहीं" के रूप में खारिज कर दिया — यही वह कार्य है जिसे उच्च न्यायालय को रिट ऑफ सर्टियोरारी की अधिकारिता का प्रयोग करते हुए नहीं करना चाहिए।

‘26. इन कारणों से, हम मानते हैं कि उच्च न्यायालय ने साक्ष्य की समीक्षा कर बर्खास्तगी आदेश को निरस्त करने में त्रुटि की। अपील स्वीकार की जाती है और उच्च न्यायालय का निर्णय रद्द किया जाता है। पक्षकार अपने-अपने खर्च स्वयं वहन करेंगे।’

(विशेष बल दिया गया)

25. भारतीय स्टेट बैंक बनाम एस. के. शर्मा, (1996) 3 SCC 364 में इस न्यायालय के दोमाननीय न्यायाधीशों ने कहा:

"28. उपर्युक्त निर्णयों से यह स्पष्ट होता है कि प्राकृतिक न्याय के सिद्धांतों को किसी कठोर एवं निश्चित प्रारूप में सीमित नहीं किया जा सकता। जैसा कि रसेल बनाम ड्यूक ऑफ नॉरफोक [(1949) 1 All ER 109: 65 TLR 225] में वर्ष 1949 में कहा गया था, इन सिद्धांतों को किसी एक साँचे में नहीं ढाला जा सकता। इनकी प्रयोज्यता प्रत्येक

मामले की परिस्थितियों, प्रसंग एवं तथ्यों पर निर्भर करती है (देखिए मोहिंदर सिंह गिल बनाम मुख्य निर्वाचन आयुक्त [(1978) 1 SCC 405: (1978) 2 SCR 272])। इन सिद्धांतों का उद्देश्य उस व्यक्ति को न्यायसंगत सुनवाई एवं निष्पक्ष व्यवहार सुनिश्चित कराना है, जिसके अधिकारों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ सकता है (देखिए ए.के. रॉय बनाम भारत संघ [(1982) 1 SCC 271: 1982 SCC (Cri) 152] तथा स्वदेशी कॉटन मिल्स बनाम भारत संघ [(1981) 1 SCC 664])। जैसा कि इस माननीय न्यायालय ने ए. के. क्रैपाक बनाम भारत संघ [(1969) 2 SCC 262] में इंगित किया है, अर्ध-न्यायिक कर्तव्यों और प्रशासनिक कार्यों (जो किसी पक्ष के अधिकारों को प्रभावित करते हैं) के मध्य विभाजन रेखा अत्यंत सूक्ष्म एवं लगभग अप्रभेद्य हो गई है — जिस पर काउंसिल ऑफ सिविल सर्विस यूनियन्स बनाम मिनिस्टर फॉर द सिविल सर्विस [(1984) 3 All ER 935 : (1984) 3 WLR 1174 : 1985 AC 374, HL] में हाउस ऑफ लॉर्ड्स ने भी बल दिया, जहाँ प्राकृतिक न्याय एवं निष्पक्ष सुनवाई के सिद्धांतों को समानार्थक माना गया। चाहे जो भी मामला हो, प्रत्येक शिकायत जिसका संबंध *audi alteram partem* (दूसरी पक्ष को सुनने का अधिकार) सिद्धांत के उल्लंघन से हो, उसे निष्पक्ष सुनवाई की दृष्टि — जिसे *prejudice test* भी कहा जाता है — से परखा जाना चाहिए। निश्चित ही, ऐसे परिस्थितियाँ हो सकती हैं जहाँ पूर्व सूचना/सुनवाई की आवश्यकता का पालन करना स्वयं प्रक्रिया को निष्फल कर सकता है — जिससे जनहित को गंभीर क्षति पहुँचने की संभावना हो सकती है। प्राकृतिक न्याय के सिद्धांतों की अनुपालना के रूप में निर्णयोत्तर सुनवाई की अवधारणा कुछ मामलों में विकसित की गई, जैसे कि लिबर्टी ऑयल मिल्स बनाम भारत संघ [(1984) 3 SCC 465]। कुछ मामलों में जनहित या राज्य की सुरक्षा अथवा अन्य समान विचारों के कारण *audi alteram partem* (पक्षकार को सुनवाई का अधिकार) सिद्धांत का पालन करना अनुपयुक्त हो सकता है, जैसा कि संविधान के अनुच्छेद 311(2) के उपबंध की धाराओं (b) एवं (c) में वर्णित परिस्थितियों में होता है, अथवा उस सामग्री का प्रकटीकरण करना उचित नहीं होता जिस पर कोई विशेष कार्यवाही आधारित है। वास्तव में ऐसी कई विविध परिस्थितियाँ हो सकती हैं, जिन्हें पहले से अनुमानित कर पाना संभव नहीं है। हमारी विनम्र राय में, अब तक के निर्णयों से जो सिद्धांत उभरते हैं, उन्हें अनुशासनात्मक आदेशों एवं जाँच से संबंधित

मामलों में निम्नलिखित रूप में अभिव्यक्त किया जा सकता है: यह आवश्यक है कि प्राकृतिक न्याय के सिद्धांत *audi alteram partem* के उल्लंघन और उक्त सिद्धांत के किसी पहलू के उल्लंघन के बीच भेद किया जाए। दूसरे शब्दों में, 'बिना कोई सूचना' / 'बिना कोई सुनवाई' और 'पर्याप्त सुनवाई नहीं दी गई' के बीच भेद किया जाए। या फिर कहें, 'कोई अवसर नहीं दिया गया' और 'पर्याप्त अवसर नहीं दिया गया'। उदाहरण के लिए, यदि किसी व्यक्ति को बिना कोई सुनवाई का अवसर दिए ही सेवा से बर्खास्त कर दिया जाता है (जैसा कि रिज बनाम बाल्डविन [1964 AC 40: (1963) 2 All ER 66] में हुआ), तो यह पहला प्रकार होगा और ऐसा बर्खास्तगी आदेश अमान्य या शून्य होगा - यदि हम उस शब्द का प्रयोग करें, (कैल्विन बनाम कार [1980 AC 574: (1979) 2 All ER 440])। किन्तु यदि किसी व्यक्ति को, उदाहरणतः, जांच अधिकारी की रिपोर्ट की प्रति दिए बिना सेवा से बर्खास्त किया गया (जैसा कि मैनेजिंग डायरेक्टर, ईसीआईएल बनाम बी. करुणाकर [(1993) 4 SCC 727] में हुआ) अथवा उसे किसी गवाह से जिरह का यथोचित अवसर नहीं दिया गया (जैसा कि के.एल. त्रिपाठी [(1984) 1 SCC 43] में हुआ), तो यह दूसरा प्रकार होगा — अर्थात् प्राकृतिक न्याय के सिद्धांत के किसी पहलू का उल्लंघन — ऐसी स्थिति में, आदेश की वैधता को पूर्वाग्रह की कसौटी पर परखा जाएगा, अर्थात् समग्र रूप से यह देखा जाएगा कि क्या संबंधित व्यक्ति को निष्पक्ष सुनवाई प्राप्त हुई या नहीं। इसलिए यह कहना सही नहीं होगा कि उपरोक्त निर्णयों के आलोक में प्राकृतिक न्याय के किसी भी पक्ष अथवा उस पक्ष को समाहित करने वाले किसी नियम के प्रत्येक उल्लंघन के लिए पारित आदेश पूर्णतः शून्य है और उसे बिना किसी और जांच के निरस्त कर दिया जाना चाहिए। हमारे विचार में, बी. करुणाकर [(1993) 4 SCC 727 : 1993 SCC (L&S) 1184 : (1993) 25 ATC 704] में अपनाया गया दृष्टिकोण और परीक्षण उन सभी मामलों पर लागू होना चाहिए, जहाँ शिकायत यह नहीं है कि बिल्कुल भी सुनवाई नहीं हुई (जैसे कि कोई सूचना नहीं, कोई अवसर नहीं, और कोई सुनवाई नहीं), बल्कि शिकायत यह है कि उचित सुनवाई नहीं दी गई (अर्थात्, पर्याप्त या पूर्ण सुनवाई नहीं हुई) या फिर उस प्रक्रिया संबंधी नियम या आवश्यकता का उल्लंघन हुआ है, जो जाँच प्रक्रिया को नियंत्रित करता है; ऐसी स्थिति में शिकायत

का परीक्षण पूर्वाग्रह के दृष्टिकोण से किया जाना चाहिए, जैसा कि उपर्युक्त में स्पष्ट किया गया है।

26. भारत संघ बनाम के. जी. सोनी (2006) 6 SCC 794 में कहा गया:

‘14. इन सभी निर्णयों में एक सामान्य बात यह है कि जब तक प्रशासनिक निर्णय तर्कहीन न हो या प्रक्रिया में गंभीर त्रुटि न हो, या ऐसा निर्णय न हो जो न्यायालय की अंतरात्मा को झकझोर दे, तब तक न्यायालय को हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। *Wednesbury* मामले [***Associated Provincial Picture Houses Ltd. v. Wednesbury Corporation***, (1948) 1 KB 223: (1947) 2 All ER 680 (CA)] में कही गई बातों के आलोक में, न्यायालय उस विकल्प की सत्यता में नहीं जाएगा जिसे प्रशासक ने अपने लिए उपयुक्त समझकर चुना है, और न्यायालय अपने निर्णय को प्रशासक के निर्णय के स्थान पर नहीं रखेगा। न्यायिक पुनरवलोकन (*judicial review*) की सीमा केवल निर्णय-निर्माण की प्रक्रिया में हुई त्रुटियों तक सीमित है, न कि स्वयं निर्णय तक।

‘15. अन्य शब्दों में कहें तो, जब तक अनुशासनात्मक प्राधिकरण या अपीलीय प्राधिकरण द्वारा आरोपित दंड न्यायालय/प्राधिकरण की अंतरात्मा को झकझोर न दे, तब तक उसमें हस्तक्षेप की कोई गुंजाइश नहीं होती। इसके अतिरिक्त, लंबितवादों को संक्षिप्त करने के लिए, असाधारण और विरल मामलों में, न्यायालय उपयुक्त और तर्कसंगत कारणों को रिकॉर्ड करते हुए उपयुक्त दंड आरोपित कर सकता है। सामान्य स्थिति में, यदि आरोपित दंड अत्यंत असंगत प्रतीत होता है, तो यह उपयुक्त होगा कि अनुशासनात्मक प्राधिकरण या अपीलीय प्राधिकरण को आरोपित दंड पर पुनर्विचार करने का निर्देश दिया जाए।

(विशेष बल दिया गया)

27. उत्तर प्रदेश राज्य बनाम मन मोहन नाथ सिन्हा, (2009) 8 SCC 310 में दो माननीय न्यायाधीशों द्वारा कानूनी स्थिति को दोहराया गया:

15. विधिक स्थिति पूर्णतः स्थापित है कि न्यायिक पुनरावलोकन की

शक्ति निर्णय के विरुद्ध नहीं होती, बल्कि केवल निर्णय लेने की प्रक्रिया तक सीमित होती है। न्यायालय निर्णय के गुण-दोष पर विचार नहीं करता। यह उच्च न्यायालय के लिए उपयुक्त नहीं है कि वह जांच अधिकारी के समक्ष प्रस्तुत साक्ष्यों का पुनर्मूल्यांकन एवं पुनर्परीक्षण करे तथा जांच अधिकारी द्वारा दर्ज निष्कर्षों की समीक्षा एक अपीलीय न्यायालय की भांति करे और अपने स्वयं के निष्कर्ष पर पहुंचे। वर्तमान प्रकरण में, उच्च न्यायालय ने साक्ष्य का परीक्षण इस प्रकार किया मानो वह एक अपीलीय न्यायालय हो, जो कि एक गंभीर त्रुटि है। इस मामले में उच्च न्यायालय की विचार प्रक्रिया में स्पष्ट त्रुटि परिलक्षित होती है और हमारी गंभीर सोच के अनुसार, यह मामला उच्च न्यायालय द्वारा विधि के अनुसार पुनः विचार हेतु भेजे जाने योग्य है। केवल इसी संक्षिप्त आधार पर, हम इस प्रकरण को उच्च न्यायालय को पुनः विचारार्थ वापस भेजते हैं।

28. जब हम इस मामले के तथ्यों पर ध्यान देते हैं, तो हमें पता चलता है कि एकल न्यायाधीश और खंडपीठ ने अपीलीय न्यायालय की भांति कार्य किया और साक्ष्यों की पुनः सराहना की, जिसके विरुद्ध उपरोक्त निर्णयों में स्पष्ट चेतावनी दी गई है। वर्तमान पीठ द्वारा भारती एयरटेल लिमिटेड बनाम ए. एस. राघवेंद्र, (2024) 6 SCC 418 में यह कहा गया:

‘29. जहां तक उच्च न्यायालय द्वारा तथ्यों की पुनः समीक्षा का प्रश्न है, यह नहीं कहा जा सकता कि यह संविधान के अनुच्छेद 226 और 227 के अंतर्गत पूर्णतः निषिद्ध है। हालांकि, न्यायिक हस्तक्षेप को उचित ठहराने हेतु उस न्यायाधिकरण के आदेश में सामान्य से अधिक त्रुटि होनी चाहिए, जिसकी समीक्षा उच्च न्यायालय द्वारा की जा रही हो। हमें नहीं लगता कि वर्तमान मामले में ऐसी कोई स्थिति उत्पन्न हुई थी। इसके अतिरिक्त, प्रतिवादी द्वारा उद्धृत निर्णयों का अनुप्रयोग इस मामले पर नहीं होता।’

29. स्पष्टतः, तथ्यों और साक्ष्यों की पुनः समीक्षा उच्च न्यायालय द्वारा पूर्णतः निषिद्ध नहीं है, किंतु मूल आदेश में सामान्य से अधिक त्रुटि होनी चाहिए। प्रतिवादी का यह तर्क नहीं है कि अपीलकर्ताओं द्वारा किसी ठोस या प्रक्रियात्मक चूक के कारण उसे कोई क्षति हुई हो। इस बिंदु पर स्वतंत्र रूप से भी विचार करें तो

तथ्य यह है कि पहले का हटाने का आदेश रद्द कर दिया गया था, और जांच रिपोर्ट की एक प्रति व आरपीएससी की राय प्रतिवादी को प्रदान की गई थी। उसके पश्चात प्रतिवादी को लिखित प्रतिवेदन देने का अवसर मिला, जिसका उन्होंने उपयोग किया। साथ ही उन्हें मौखिक सुनवाई का अवसर भी दिया गया। इस दृष्टिकोण से, हम प्राकृतिक न्याय के सिद्धांतों के किसी उल्लंघन को नहीं पाते।

30. जांच अधिकारी के समक्ष प्राधिकरण की ओर से 13 गवाहों और 75 दस्तावेजों को प्रस्तुत किया गया। प्रतिवादी कर्मचारी की ओर से 3 गवाहों ने बयान दिया। रिकॉर्ड पर मौजूद साक्ष्यों को देखते हुए, जांच अधिकारी ने अपनी रिपोर्ट में कुछ आरोपों को पूर्णतः/आंशिक रूप से सिद्ध पाया। तत्पश्चात, एक नया निष्कासन आदेश पारित किया गया, जिसमें जांच अधिकारी के निष्कर्षों से सहमति व्यक्त की गई। यह निष्कासन आदेश 'कोई साक्ष्य नहीं' के आधार पर नहीं कहा जा सकता। इसका अवलोकन करने पर, यह स्पष्ट होता है कि जहां अनुशासनात्मक प्राधिकारी ने जांच अधिकारी की रिपोर्ट से असहमति जताई है, वहां कारण स्पष्ट किए गए हैं। जहां सहमति है, निष्कासन आदेश में वहां भी साक्ष्य का उल्लेख किया गया है।
31. यह अच्छी तरह स्थापित है कि यदि अनुशासनात्मक प्राधिकारी जांच अधिकारी द्वारा दर्ज निष्कर्षों को स्वीकार करता है और उसके आधार पर दंड प्रदान करता है, तो आदेश में विस्तृत कारणों का उल्लेख आवश्यक नहीं होता, जैसा कि इस न्यायालय के तीन न्यायाधीशों द्वारा बोलेराम बोरदोलोई बनाम लक्ष्मी गाओला बैंक, (2021) 3 SCC 806 में स्पष्ट किया गया है:

'11.... यह अच्छी तरह से स्थापित है कि यदि अनुशासनात्मक प्राधिकारी जांच अधिकारी के निष्कर्षों को स्वीकार करता है और एक आदेश पारित करता है, तो दंड लगाने वाले आदेश में विस्तृत कारणों का उल्लेख करना आवश्यक नहीं है। दंड जांच रिपोर्ट में दर्ज निष्कर्षों के आधार पर लगाया जाता है, इसलिए अनुशासनात्मक प्राधिकारी द्वारा कोई और विस्तृत कारण देने की आवश्यकता नहीं होती...'

32. निष्कासनआदेश से स्पष्ट होता है कि अनुशासनात्मक प्राधिकारी ने उपलब्ध समस्त सामग्री पर विचार किया और प्रतिवादी पर दंड लगाने हेतु संतुष्ट हुआ।

33. खंडपीठ द्वारा पृष्ठ 7 पर की गई टिप्पणी से स्पष्ट होता है कि वह विधिक सिद्धांत से अवगत थी, फिर भी उसने एक भिन्न दृष्टिकोण अपनाने का प्रयास किया, जो उचित प्रतीत नहीं होता। यह अभिलेख के विरुद्ध है। हालांकि अपीलकर्ताओं द्वारा प्रत्येक आरोप के संबंध में तर्क प्रस्तुत किए गए, हम प्रत्येक आरोप में नहीं जाएंगे क्योंकि हम साक्ष्यों की पुनः सराहना नहीं कर रहे। इतना कहना पर्याप्त है कि आरोप व्यापक रूप से तथ्यों के आधार पर सिद्ध हुए, जो आधिकारिक दस्तावेजों पर आधारित थे, जिन्हें प्रतिवादी ने कभी भी खंडित या अस्वीकार नहीं किया। प्रतिवादी ने यह भी नहीं कहा कि दस्तावेज अस्तित्वहीन/झूठे/जाली थे।
34. माननीय एकल न्यायाधीश ने यह भी कहा कि पहले के हटाने के आदेश और बाद में पारित आदेश में कोई अंतर नहीं है। माननीय एकल न्यायाधीश का मानना था कि प्रतिवादी की प्रतिवेदन का केवल उल्लेख किया गया था, उस पर चर्चा नहीं की गई थी, जिससे यह आदेश यांत्रिक रूप से और बिना कारणों के पारित किया गया। यद्यपि यह आधार प्रतिवादी ने आक्षेपित निर्णय के संबंध में नहीं लिया, हम इसे संबोधित करना उपयुक्त मानते हैं। दोनों निष्कासन आदेशों की तुलनात्मक समीक्षा करने पर, उनके बीच की समानताएँ स्पष्ट रूप से सामने आती हैं।
35. यह कहते हुए, हम यह स्पष्ट करना चाहेंगे कि प्रतिवादी-कर्मों की प्रस्तुति को नए निष्कासन आदेश में विचार किया गया है, भले ही बहुत विस्तार से नहीं। आगे चलकर, जहां भी अनुशासनात्मक प्राधिकारी कोई बड़ा दंड लगाए, यह उचित होगा कि वे संबंधित कर्मचारियों की प्रस्तुति पर बेहतर ढंग से विचार करें। हालांकि वर्तमान मामले में, उपलब्ध साक्ष्य और प्रतिवादी को उचित अवसर दिए जाने की प्रक्रिया को देखते हुए, हम केवल प्रक्रिया में मामूली कमी के कारण आक्षेपित निर्णय को बरकरार रखने के लिए प्रवृत्त नहीं हैं। जैसा कि पहले उल्लेख किया गया, इन कमियों से प्रतिवादी को कोई ऐसा नुकसान नहीं हुआ है जो न्यायिक हस्तक्षेप को उचित ठहराए।
36. इस चरण पर यह उल्लेख करना प्रासंगिक होगा कि प्रतिवादी के विद्वान् अधिवक्ता से एक विशिष्ट प्रश्न पूछे जाने पर कि उन्होंने समय पर पूरा चार्ज क्यों नहीं सौंपा; कलेक्टर/रजिस्ट्रार की अनुमति के बिना नियुक्तियाँ क्यों की गईं; और पैसा डेढ़ वर्ष बाद क्यों लौटाया गया, तो वे तथ्यात्मक स्थिति का खंडन नहीं कर सके और केवल माननीय एकल न्यायाधीश द्वारा दिए गए निर्णय तथा

आक्षेपित निर्णय पर निर्भर रहे। साथ ही, प्रतिवादी के आचरण को देखते हुए, हम लगाए गए दंड में कोई मनमानी या विकृति नहीं पाते।

37. उपरोक्त कारणों के आधार पर, आक्षेपित निर्णय को रद्द किया जाता है और अनुशासनात्मक प्राधिकारी द्वारा 28.09.1993 को पारित निष्कासन आदेश बहाल किया जाता है। इसके परिणामस्वरूप कानून के अनुसार कार्रवाई की जाएगी। हालांकि, असाधारण उदारता के रूप में, यह देखते हुए कि प्रतिवादी सेवानिवृत्त हो चुके हैं और वृद्ध हैं, यदि अंतरिम अवधि में उन्हें कोई भुगतान किया गया हो, तो उसे अपीलकर्ता द्वारा वापस नहीं लिया जाएगा। अपीलें उपरोक्त शर्तों के साथ समाप्त की जाती हैं। खर्च के संबंध में कोई आदेश नहीं।

.....
हिमा कोहली

.....
अहसानुद्दीन अमानुल्लाह

नई दिल्ली

08 अगस्त 2024